नाट्य–कृति मतवाली मीरा

सुमन
एम.ए. हिन्दी, बी.एड., यूजीसी नैट (हिन्दी)
गांव व डाकखाना–माधोसिंघाना, जिला व तहसील सिरसा (हरियाणा)

'मतवाली मीरा' हरियाणा के अल्पचर्चित साहित्यकार पं. तुलसीदास शर्मा 'दिनेश' की नाट्य कृति है। इनका जन्म स्थान माढण (राजस्थान) है लेकिन सैंकड़ों वर्ष पूर्व इनके पूर्वज हरियाणा के 'कैरूँ' नामक गाँव में आ बसे थे। उन्होंने अपनी प्रारंभिक शिक्षा गाँव के पंडित नंद किशोर से प्राप्त की। अपने गुरु की प्रेरणा से उन्होंने 'भिवानी' के वैश्य उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में प्रवेश लिया। इसी विद्यालय से उन्होंने 'मैट्रिक' की परीक्षा उत्तीर्ण की। दिनेशजी अद्‌भुत प्रतिभा के धनी थे। कालांतर में उन्होंने वैद्यक की परीक्षा उत्तीर्ण की। उन्होंने भिवानी, अमृतसर, बम्बई के विद्यालयों में अध्यापन कार्य भी किया। साहित्य–सृजन में उनकी रुचि बचपन से थी। वे साहित्य–सृजन में निरंतर लगे रहते थे। ''आपका लम्बा–चौड़ा बदन, गेहूँवा वर्ण, विशाल भाल, माथे पर चंदन का टीका, काली–सफेद सुंदर आँखें, लम्बी–लम्बी भौंहें, कम बड़ी काली मूँछे, भरी हुई ढोडी, कपोल और मुख पर मन्द–मन्द मुस्कान की तरंग, सिर पर सफेद साफा'' – आदि गुणों से अनुप्राणित उनका व्यक्तित्व था। उन्होंने गद्य–पद्य दोनों में, दर्जनों ग्रंथों की रचना की जिनमें प्रमुख हैं– 'पुरुषोत्तम', 'अर्ध्य', 'श्याम सतसई', 'मतवाली मीरा', 'बंधुभरत', 'सच्चा हिन्दू', 'मंगल में दंगल', 'पंचामृत', 'भक्त भारती', 'वासुदेव', 'सत्याग्रही प्रह्लाद' आदि। आपका निधन 45 वर्ष की अवस्था में कार्तिक मास की पूर्णिमा विक्रमी संवत् 1968 में हुआ।

उक्त नाट्य–कृति पर प्रकाश डालने से पूर्व 'नाटक' विद्या पर विचार करना आवश्यक है। 'नाटक' शब्द की व्युत्पत्ति 'नट' धातु से हुई है जिसका अर्थ है– सात्विक भावों की प्रस्तुति। दूसरे अर्थ में नाटक का सम्बन्ध नट (अभिनेता) से होता है। वस्तुतः विभिन्न अवस्थाओं की अनुकृति को नाटक कहते हैं– ''अवस्थानु कृतिनाट्म।''[1] नाटक में अनुकरण आंगिक, वाचिक, आहार्य (वेश–भूषा), सात्विक–चार प्रकार का होता है। यह अवस्था शारीरिक और मानसिक–दोनों प्रकार की होती है। विद्वानों ने नृत्य और नाटक में भेद बताते हुए कहा है कि नृत्य केवल भावाश्रित है और नाटक रसाश्रित। आचार्य भरतमुनि ने नाटक को लोक व्यवहारों का अनुकरण माना है। इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने नाटक को अवस्था का अनुकरणीय अभिनय माना है।

नाटक यथार्थ जीवन के अधिक निकट है। उसका मानव जीवन और समाज से बहुत निकट और घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। नाटक में पात्रों की वेशभूषा, उनकी आकृति, भावभंगी क्रियाओं के अनुकरण, भावों के अभिनय तथा प्रदर्शन द्वारा दर्शक को समाज के यथार्थ जीवन के निकट ला देता है। इसी कारण अभिनय में जितनी वास्तविकता होती है, वह नाटक उतना ही सफल माना जाता है। नाट्य दर्पणकार के अनुसार नाटक की रचना करते समय नाट्यकार को तीन तत्त्वों–वस्तु, नेता और रस की प्रस्तुति करनी चाहिए। नाटकों की आधुनिक अवधारणा पर प्रकाश डालते हुए स्व. श्याम मोहन श्रीवास्तव लिखते हैं –''आधुनिक धारणा के अनुसार नाटक जीवन की व्याख्या है, जो हमारी समस्याओं एवं उनके हलों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। नाटक नैतिक मूल्यों की दृष्टि से मानवीय अभिव्यक्ति का एक श्रेष्ठ साधन है। लेखक इसमें जो कुछ भी कहना चाहता है, केवल संवादों के माध्यम से कहता है, अन्यथा सब कुछ घटनाओं से स्वतः व्यंजित होता है।''[2]

भारतीय आचार्यों ने वस्तु, नेता और रस के आधार पर नाटक के तत्त्वों का आख्यान किया है। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक के छः तत्त्व माने हैं– (1) कथावस्तु (2) पात्र या चरित्र चित्रण (3) कथोपकथन (संवाद) (4) देशकाल वातावरण (5) शैली (6) उद्देश्य। भारतीय आचार्यों के उक्त तीन तत्त्वों को इन छः तत्त्वों में समाहित किया जा सकता है।

कथावस्तु :

कथावस्तु वह कथा है जो नाटक का मूल होती है। इसे अंग्रेजी में प्लॉट कहते हैं। इसका विस्तार ही नाटक को आगे बढ़ाता है। नाटक दृश्य काव्य कहलाता है। इसमें लेखक उन्हीं प्रसंगों को चुनता है जो दिखाये जाने योग्य हो तथा मार्मिकता से ओतप्रोत हों ताकि वे दर्शकों को प्रभावित कर सकें। नाटक की कथावस्तु के दो भेद माने गए हैं– आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक कथावस्तु उसे कहते हैं जिसमें प्रधान पात्रों से सम्बन्ध रखने वाली कथा का मुख्य विषय हो। फल के स्वामी को अधिकारी कहते हैं। आधिकारिक कथा का सूत्र प्रारंभ से फल–प्राप्ति तक रहता है। प्रासंगिक कथावस्तु का सम्बन्ध नायक–नायिका से न रहकर अन्य पात्रों से रहता है। वह कथा भाग कथा की गति को बढ़ाने के लिए होता है।[3]

स्त्रोत की दृष्टि से कथावस्तु के तीन भेद किये गये हैं– प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। प्रख्यात कथा का आधार इतिहास, पुराण या परम्परागत जनश्रुति होता है। लोक में प्रचलित कथा भी प्रख्यात कथा कहलाती है।[4] उत्पाद्य कथा वह होती है जिसे कवि या नाटककार अपनी कल्पना से गढ़ता है। वह नाटककार की अपनी उपज होती है।[5] मिश्र कथावस्तु में इतिहास व कल्पना–दोनों का मिश्रण होता है। इसमें कवि– नाटककार को कल्पना के लिए काफी गुंजाइश रहती है, लेकिन वह निर्दिष्ट सीमा के बाहर नहीं जा सकता।[6]

मतवाली मीरा : पर्यालोचन :

कथावस्तु : दिनेशजी ने 'मतवाली मीरा' के प्रारंभ में यह स्वीकार किया है कि इसमें भावना और कल्पना की ही प्रधानता है। ऐतिहासिक सच्चाई सिद्ध करने की मुझमें न क्षमता है और न दक्षता।[7] इस दृष्टि से इस नाटक की कथावस्तु को मिश्र कथावस्तु माना जा सकता है। 'मतवाली मीरा' में दिनेश जी ने कृष्ण भक्तिन मीरा के हृदय में कृष्ण के प्रति प्रेमोन्माद का व्यापक वर्णन किया है।

दिनेशजी ने 'मतवाली मीरा' की कथावस्तु को इक्कीस शीर्षकों के माध्यम से प्रस्तुत किया है, यथा– प्रतिमा प्रदर्शन, प्रतिमा प्राप्ति, प्रेम–अंकुर, परिणय चर्चा, पद्य रचना, बिदा, देवपूजन, पति से भिक्षा, एकांतवास, अनुरोध–विरोध, प्रेम–उन्माद, प्रेम–व्याधि, धूर्त की धृष्टता, अंतिम चेतावनी, विषपान, साधु–सम्मिलन, वृंदावन–बिहरण, लीला–अवलोकन, कालिंदी के तीर, राणा सम्मिलन, महा समाधि।

'मतवाली मीरा' का जैसा शीर्षक है, उसी के अनुरूप मीरा की भावना परिलक्षित होती है। इसमें भगवान कृष्ण के प्रति मीरा के प्रेमोद्‌माद को व्यक्त किया गया है। मीरा अपने प्रियतम के प्रेम को पाने के लिए अपना सर्वस्व कुर्बान कर देती है। मीरा अपने प्रियतम के प्रेम को पाने के लिए दिन–रात विकल रहती है। मीरा को भगवान कृष्ण से इतना अधिक मोह हो जाता है कि वह अपनी भावना में बहकर पदों की रचना करती है। पदों की रचना करते हुए भी वह स्वयं को असमर्थ समझती है। उसका कहना है कि "जब मैं अपनी कलम को लिखने के लिए स्याही में डुबोती हूँ तो मेरा हाथ एवं हृदय काँपने लगता है। मुझसे अपनी बात कही भी नहीं जाती। नाटककार 'दिनेशजी' ने मीरा के सुख से इस प्रकार कहलवाया है–

पतिया मैं कैसे लिखूँ लिखी न जाई।
बात कहे मोहि बात न आवत, नैन रहे फर्राई।।
किस विध चरण कमल में गहि हों, सबही अंग थर्राई।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, सब ही दुख बिसराई।।[8]

मीरा बहुत ही उद्‌विग्न हो उठती है। उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। वह अपने इष्ट के लिए दिन–रात तड़पती रहती है। वह कहती है तुम्हारे बिना मुझसे रहा नहीं जाता। दिन में मुझे भूख नहीं लगती और रात में मुझे नींद नहीं आती। इससे अधिक मैं तुम्हारे से और क्या कहूँ? "हे अन्तर्यामी, तुम मुझे क्यों तरसा रहे हो? मैं तो तुम्हारे लिए प्रत्येक जनम की दासी रही हूँ, तुम्हारे चरण–कमलों में पड़ी हूँ। इसलिए तुम मुझसे कृपा करके मिलो और मेरी प्यास को तृप्त करो।" मीरा अपने प्रियतम के प्रेम में इतनी घुल–मिल गई है कि वह उसे ही अपना सर्वस्व समझती है। एक बार पद्‌मावती व विद्या नामक दो सखियाँ बातों ही बातों में मीरा से कहती है कि तू थोड़े दिनों में ही चित्तौड़गढ़ पति महाराणा सांगा के ज्येष्ठ कुँवर श्री भोजराज की भार्या होने जा रही है। ऐसा सुनकर मीरा आश्चर्यमय होकर उनसे कहती है–

"मैं किसी की स्त्री बनूँगी! तुम्हें यह कौन कहता है? बहन आर्य कन्याएँ तो किसी एक से ही विवाह करती हैं, अनेकों से नहीं।" मीरा पुनः कहती है– "बहन! आर्य कन्याएँ अपने मन–सुमन को किसी एक ही आराध्यदेव के चरणों में समर्पित किया करती है, अनेकों को नहीं।"[9]

फिर उसकी दोनों सखियाँ उससे कहती हैं– "तू पागल तो नहीं हो गई, जो ऐसी विचित्र बातें करती हैं। तू हमें सच बता कि तुम्हारा विवाह कब और किसके साथ हुआ है। तब मीरा अपने आराध्य के विषय में बतलाती है–

मैंने श्याम सुंदर वर पाया है री।
पूर्व जन्म से हुई सगाई, अबके आ अपनाया है री।
मात–पिता दे चाहे जिसे उनसे उपजी काया है री।
मन–मोहन को मन दे डाला, मन–मोहन मन भाया है री।
जिसके पीछे सकल जगत यह, फिरता घाया–घाया है री।
अमर पुरुष वह ढूंढा मैंने, जिसमें काल समाया है री।।[10]

मीरा कृष्ण की इतनी दिवानी हो जाती है कि वह उसे ही सर्वस्व मानती है। मीरा के विरह के समय उसकी माता उसे सुखीपूर्वक विदा देना चाहती है। इसके लिए वह मीरा पूरी छूट देती है कि तू चाहे जो रथ, हथी, मानिक, लात, दास–दासी मांगले, परन्तु मीरा तो अपनी इष्ट की मूर्ति के लिए व्याकुल है। उसे और कुछ नहीं चाहिए। वह अपनी माँ को कहती है कि "तू मुझे मेरे गिरधर की वही मूर्ति दे दे। मुझे न हाथी, घोड़े, रथ चाहिएं, न दास–दासियाँ चाहिएं। मीरा अपनी माँ से कहती है–

"मुझे तो मेरा वही, परम धन चाहिए। वही मेरा धन है, धर्म है, ध्येय है। वही मेरा प्राण और आत्मा है। वही मेरे प्राणों का प्राण और वही सर्वस्व है।"[11]

मीरा गिरधर के प्रेम–उन्माद में इतनी पागल हो गई है कि अपने विवाह के समय अपनी ससुराल में नव–वधू के रूप में उनके कुल की भगवती देवी की आराधना करने के लिए इनकार कर देती है। वह स्पष्ट शब्दों में कहती है– "मैं केवल एक ही देवता गिरधर की उपासना करती हूँ, किसी अन्य की नहीं।"[12]

मीरा अपने इष्ट की भक्ति में इतने गहरे भाव से अनुरक्त है कि उसे अपने ससुराल वालों से भी कोई भय नहीं है। मीरा साधु–संतों के साथ भगवान की भक्ति में दिन–रात लीन रहती है– जो उसके ससुराल वालों को सहनीय नहीं होती। वे उसे भली–बुरी भी कहते हैं, परन्तु मीरा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मीरा को मारने के लिए राणा

सांगा एक पुजारी के हाथ ज़हर का प्याला पंचामृत बनाकर मीरा के पास पहुँचाते हैं। उस समय मीरा के पास कमली नाम की एक दासी उपस्थित थी। वह उस पंचामृत के विषय में मीरा कहती है– "आज से बड़े पुजारी स्वयं पंचामृत लेकर आए हैं। मुझे इसमें कुछ रहस्य लगता है।" इसलिए वह मीरा को पंचामृत पीने नहीं देती। लेकिन मीरा कोई शंका नहीं करती। वह उस पंचामृत को सचमुच पंचामृत समझकर पीना चाहती है। इसलिए अपनी दासी को भी शंकारहित करती हुई कहती है–

"कमली तू किसी प्रकार का भय, चिंता और अशंका ही मत कर। जो कुछ होना है होने दे। इसमें शंका करना ही पाप है। यह भगवान का पंचामृत भगवान का प्रसाद है, इसमें तो पाँच अमृत हैं। यदि भगवान के चरणों से छूकर पाँच विष भी आ जायें तो भी वे मेरे लिए अमृत ही हैं।" अंत में वह उस जहर को भी भगवान का प्रसाद मानकर पी जाती है और अपनी सखियों से कहती है–

सखी, सहेली विष कहैं, मोहि सुधा को मान।
जो कुछ हो खोटी–खरी, ये सुलटो भवान।।[13]

मीरा अपने प्राणनाथ को प्राप्त करने के लिए बड़ी विकल हो जाती है। वह यमुना नदी को अपने समान विरहिणी मानती है। परन्तु यमुना को अपने से अच्छा मानती है। मीरा जी कहती है कि तूने तो उसके दर्शन किये हैं और उसकी मुरली की मधुर आवाज सुनकर उसकी अनुरागिनी बनकर ताल दे–देकर नाची तो है। मैं एक बार भी उसके चरणों की रज से अपने हृदय को शीतल नहीं कर पाई हूँ।[14]

कृष्ण को प्राप्त करने के लिए मीरा की विकलता इन पंक्तियों में देखी जा सकती है– "अच्छा, अब मैं उसे ढूँढने निकलूंगी। मैं पवन बनकर ब्रह्माण्ड में फैल जाऊंगी। मैं धूल में मिलकर वसुधामय हो जाऊंगी... मैं जल में मिलकर मेघों को वाहन बनाकर ब्रह्माण्ड में फैल जाऊँगी।"[15]

मीरा का हृदय भगवान कृष्ण की भक्ति के साथ आदर–सत्कार की भावना से भी भरा हुआ दर्शाया गया है। परिवार जनों की अपेक्षा वह साधु–संतों, सखी–सहेलियों और दास–दासियों के प्रति आदर–सत्कार की भावना से अनुप्राणित थीं। जब मीरा को नव–वधू के रूप में सास द्वारा भगवती देवी की पूजा करने के लिए कहा जाता है तो मीरा उसकी उपासना न करने के लिए अपनी सास से क्षमायाचना करती है। मीरा की ननद ऊदा मीरा को जब जबरदस्ती हाथ पकड़कर भगवती देवी की पूजा करने को कहती है–तो मीरा बड़े धैर्य और मान–सम्मान से ऊदा से क्षमा–याचन करती है। राणा विक्रमाजीत मीरा के स्वतंत्र व्यवहार से नाराज हो जाते हैं, तब मीरा अपने इष्ट की भक्ति के लिए साधु–संतों की संगति नहीं छोड़ती। यहाँ तक कि राणा सांगा मीरा को मारने की धमकी देता है तो वह तनिक भी नहीं घबराती है। मीराजी दृढ़तापूर्वक कहती है–

मेरे रोम–रोम में डसाओ बिच्छू–विषधर,
क्रूर कुत्तों–कागों से चुचाओ मेरी खाल को।
चाहे जिस भाँति इन मेरे प्राणों को छुड़ाओ,
पर ना छुड़ाओ, प्राण–प्यारे नंद लाल को।।[16]

'मतवाली मीरा' में कल्पना तत्त्व की प्रस्तुति

'मतवाली मीरा' में भाव तत्त्व के साथ–साथ कल्पना तत्त्व का मिश्रण दिखाई देता है।

1. 'मतवाली मीरा' में एक साधु को भगवान कृष्ण के द्वारा कल्पना की प्रस्तुति कराई गई है जिसमें वे एक साधु को अपनी प्रतिमा मीरा तक पहुँचाने के लिए कहते हैं। इससे मीरा के हृदय में कृष्ण के प्रति प्रेमांकुर फूट पड़ता है।[17]
2. जब मीरा नववधू के रूप में अपनी ससुराल जाती है तो उससे पहले ही उसकी सास के दाहिने नेत्र की फड़कने की कल्पन की गई है जो अपशकुन की सूचक है।[18]
3. एकांतवास में मीरा को मूर्च्छित दिखाया गया है और इसी के साथ मीरा के सिर की ओर भगवान कृष्ण के खड़े होने की कल्पना की गई है, जिससे मीरा पहले से भी अधिक विकल हो उठती है।[19]
4. प्रेम–उन्माद में जब मीरा विकल होकर कटारी से अपना दिल चीरना चाहती है तो पीछे से आकर भगवान कृष्ण द्वारा वह कटारी छीनने की कल्पना की गई है।[20]
5. वृन्दावन प्रवास के समय वृंदावन के एक विशाल मंदिर के कपाटों को स्वतः ही खुल जाने की कल्पना की गई है। इसी मंदिर के सामने मीरा के नृत्व करने की भी कल्पना की गई है।[21]
6. जब मीरा समाधिस्थ हो जाती है तो उसके शरीर से एक दिव्य तेज निकल कर भगवान कृष्ण के मुख में प्रविष्ट होने की कल्पना की गई है।[22]

पात्र/चरित सृष्टि :

नाटकों में पात्र–संख्या सीमित होने से एक तो रंगमंच के व्यवस्थापकों को सुविधा रहती है। दूसरे दर्शक कभी असुविधा का अनुभव नहीं करते पात्रों की वेशभूषा व उनकी गतिविधियों से दर्शकों को पात्रों की पहचान होती है। पात्र का नाम भी दर्शक तभी जानते हैं, जबकि दूसरे पात्र उसका नाम लेकर पुकारते हैं। यदि पात्रों की संख्या अधिक होगी तो दर्शक उन्हें पहचान नहीं पायेंगे। पात्रों की संख्या अधिक होने से नाटक के कथानक को समझने में कठिनाई आती है तथा रसानुभूति में भी बाधा सामने आती है। प्रस्तुत नाट्यकृति में ग्यारह पात्रों की व्यवस्था की गई है तो

उचित है। इन पात्रों के अलावा, दासियों, सखियों, साधु–संतों, पुजारी, द्वारपाल, स्वामी, श्रीकांत, यशोदा और उद्धव को भी थोड़े समय के लिए रंगमंच पर दिखाया गया है। मीरा के अतिरिक्त प्रमुख पात्रों के नाम इस प्रकार हैं– राजा रत्न सिंह, राजा रत्नसिंह की रानी, माधव दास (साधु) भगवान कृष्ण, चित्तौड़पति महाराणा सांगा, महाराणा सांगा की पत्नी, मीरा की ननद ऊदा, राज कुमार भोजराज, रैदास, विक्रमाजीत।

उक्त सभी पात्र नाटक के कथानक को आगे बढ़ाने में सहायक हैं। इन पात्रों का रसानुभूति में महत् योग रहता है। पात्रों की प्रस्तुति में इतिहास और कल्पना का सहारा लिया गया है।

कथोपकथन (संवाद)

वस्तुतः संवाद नाटक का प्राण तत्त्व है। संवाद नाटक की अनिवार्य आवश्यकता है। नाटक में विविध पात्रों के वार्तालाप से ही कथानक का विकास होता है और विविध घटनाएँ एक–दूसरे से संयोजित होती हैं। नाटककार अपनी ओर से कुछ कह नहीं सकता। उसके मंतव्य को पात्र ही कह सकते हैं। संवादों के द्वारा जहाँ एक ओर कथा को गति मिलती है, वहाँ उनके द्वारा पात्रों के चरित्र का भी विकास है। पात्रों के संवादों से ही घटनाएँ जुड़ती चली जाती हैं। पात्रों की प्रकृति और उनके व्यक्तित्व का आभास उनके कथनों से हो जाता है। इन संवादों से ही जब कोई पात्र किसी अन्य पात्र के विषय में वार्तालाप करते हैं तो इतर पक्षीय पात्रों के चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। नाटकीय संवादों की विशेषताओं का आकलन करते हुए सुप्रसिद्ध नाटककार डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल लिखते हैं– 'अरस्तू ने ड्रामा का एक तत्त्व 'भाषा' बताया है। भाषा वह माध्यम है जिसके द्वारा पात्र अपने विचार दर्शकों तक संप्रेषित करते हैं।'[23]

'मतवाली मीरा' के संवाद सहज, सरल भाषा से ओतप्रोत हैं। इसकी भाषा पात्रानुकूल पात्रों की मानसिक दशा का चित्रण करने में सक्षम हैं। वस्तुतः भाषा की सम्प्रेषणीयता ही पात्र और दर्शक में तादात्म्य स्थापित करती है। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का मत है कि ''भाषा कथोपकथन के ही रूप में नाटक में व्यवहृत होती है। फलतः स्पष्टता, सीधेपन के अतिरिक्त इसे मनोरंजक होना आवश्यक है वरना दर्शक के लिए उसे ग्रहण करना रुचिकर न हो सकेगा। भाषा को चरित्र–पात्र की आत्मा को पकड़कर चलना होता है। भाषा प्रयोग के लिए नाटककार को कल्पनाशील होना चाहिए।''[24]

''मतवाली मीरा के संवाद बानगी के रूप में द्रष्टव्य हैं–

स्वामी – राजन् आपके संतान क्या है?
(मीरा का दो दासियों के साथ प्रवेश)

राजा – (मीरा की ओर हाथ करके) महाराज, यह है एक कन्या मात्र, आपकी सेविका मीरा।
(मीरा स्वामी जी को प्रणाम करती है)

स्वामी – मीरा की (मुखाकृति को देखकर) परम सौभाग्यवती हो।
बेटी, तू आज कहाँ गई थी?

मीरा – स्वामीनी आज तीजों का त्यौहार है। मैं अपनी सखी–सहेलियों के साथ बाग में झूलने के लिए गई थी। अब वहीं से आ रही हूँ।

स्वामी – देवी, तो क्या वहाँ से सभी लड़कियाँ वापिस आ गई हैं?

मीरा – नहीं महाराज! केवल मैं ही अकेली लौट आई हूँ। और बाकी सब लड़कियाँ तो वहीं पर झूल रही हैं।

स्वामी – क्यों पुत्री! तू पहले क्यों लौट आई?

मीरा – स्वामी जी, मुझे अपनी सखी–सहेलियों के संग कुछ आनंद नहीं आता। मुझे उनके नाच–गाने अच्छे नहीं लगते। मेरा मन उनमें लगता ही नहीं।[25]

वस्तुतः 'मतवाली मीरा' के संवाद पात्रानुकूल हैं। इन संवादों में सहजता, सरलता, संक्षिप्तता, अवसरानुकूलता, गतिशीलता आदि पदे–पदे दिखाई पड़ती है।

देशकाल/वातावरण :

विद्वानों के मतानुसार नाटक में इस तत्त्व की आवश्यकता स्वाभाविकता का आधान करने के लिए पड़ती है। स्वाभाविकता की रक्षा करने के लिए नाटककार को प्रत्येक युग, प्रत्येक देश तथा वातावरण का चित्रण उसकी संस्कृति, सभ्यता, रीति–रिवाज, रहन–सहन तथा वेशभूषा के अनुरूप करना चाहिए। ग्रीक आचार्यों ने नाटकों में देशकाल का महत्त्व प्रदान करने के लिए संकलनमय का विधान किया है; संकलनमय के अन्तर्गत समय, स्थान व कार्य की एकता का विधान किया है। दिनेशजी के नाटकों में उक्त तीनों, तत्त्वों में से स्थान व कार्य को अधिक महत्त्व दिया है। हाँ नाटक के पहले आठवें दृश्य में संकलनमय के तीनों तत्त्वों का समावेश किया है। पहले दृश्य में समय–श्रावणी तीज का दिन, स्थान–मेड़ता नरेश का राजमहल, कार्य–मेड़ता नरेश व रानी का वार्तालाप का उल्लेख किया है। आठवें दृश्य में समय–रात के 10 बजे, स्थान–राजकुमार भोजराज का शयनागार, राजकुमार व महाराजा के वार्तालाप का उल्लेख किया है। अधिकांश दृश्यों में महाराजा रत्नसिंह का महल, श्री गिरधर का नूतन महल, मीरा का एकांत महल, वृंदावन का विशाल मंदिर, वृंदावन का रास मंदिर, यमुना तट, द्वारिकानाथ का विशाल मंदिर आदि स्थानों का उल्लेख किया है। कार्य के अन्तर्गत मेड़ता नरेश व रानी का वार्तालाप, मीरा व दासियों का वार्तालाप, मीरा व सखियों का वार्तालाप, मीरा व ऊदाबाई का वार्तालाप, राजकुमार व राजा का वार्तालाप आदि प्रमुख हैं।

नाटक के अंतिम दृश्य में द्वारिका नाथ के विशाल मंदिर में मीरा अकेली करताल लिए पद गाती है तथा पद गाते–गाते इसी मंदिर में महा समाधिस्ट हो जाती है। इस दृश्य में केवल संकलनत्रय के कार्य तत्त्व का ही निर्वाह हुआ है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि लेखक ने देशकाल की प्रस्तुति के लिए तत्कालीन उपादानों का उल्लेख किया है। उन्होंने राजमहलों से लेकर मंदिरों, तक का सजीव चित्रण किया है। पहले दृश्य में बाग का तथा सोलहवें दृश्य में सघन वन का उल्लेख किया है। वातावरण को स्वाभाविक बनाने के लिए वातावरण को सुखन बनाने के लिए यमुना नदी का भी उल्लेख किया गया है। रंगमंचीय निर्देश वातावरण की प्रस्तुति में सहायक है। नाट्यकार ने वैद्य व साधुजनों की अवतारणा की है।

शैल्पिक सौष्ठव :

शैल्पिक दृष्टि से यह नाटक उत्तम बन पड़ा है। नाट्यकार ने शैल्पिक उपादानों का सहज प्रयोग किया है। कतिपय उपादानों का प्रयोग द्रष्टव्य है–

1. भाषिक सौष्ठव – कोई भी कृति हो, उसमें भाषा का बहुत महत्त्व होता है। यदि किसी कृति की भाषा जितनी उत्तम होगी तो वह कृति उतनी ही अधिक पूरे पाठक समाज व दर्शक समाज पर अधिकार जमा लेगी। दिनेशजी की भाषा सहजता, पात्रानुकूलता, स्वाभाविकता, मनोरंजनपूर्णता, व्यंग्यात्मकता आदि सभी गुणों से ओतप्रोत है। भाषा को मनोरंजनपूर्ण बनाने के लिए व्यंग्यात्मक भाषा का होना आवश्यक होता है। यह गुण 'दिनेश' जी की भाषा में देखा जा सकता है–

राना – मैं एक बात पूछना चाहता हूँ।
मीरा – पूछिएगा।
राना – क्यों तुम इस स्वांग को नहीं छोड़ोगी?
मीरा – इस भक्ति के ढोंग को जिसकी ओट में तुमने दुनियाभर के बदमाशों और भड़ुवों को घर में भर रखा है।[26]

दिनेशजी ने इस नाट्य–कृतिमें संस्कृतनिष्ठ विशुद्ध खड़ी बोली का प्रयोग किया है। इस नाटक को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए तत्सम शब्दों का सुष्ठु प्रयोग किया है। नाट्यकार की शैली प्रसाद गुण सम्पन्न है। नाटक के बीच–बीच आये भावपूर्ण पद इस कृति को चार चाँद लगाते हैं। यह नाटक शांत रस से ओतप्रोत है।

अलंकार–सौष्ठव : नाट्यकार ने अलंकारों का सहज प्रयोग किया है। यथा–

1. उपमा :

1. वह प्रेम की पुतली, तपस्या की मूर्ति, श्रद्धा की सीमा, दीपक की सी शिक्षा, हंस की–सी पत्नी, मृग की सी छौनी, बन की–सी कन्या।[27]

2. पर पुरुषों में स्वतंत्र रूप से उठती–बैठती हो, बस तुम्हारा यही ढंग उनको सेल की तरह सालता है।[28]

2. वीप्सा –शनैः–शनैः ।

लोकोक्ति–मुहावरा सौष्ठव

1. लोकोक्ति – होनहार बिखान के होते चिकने पात।[29]

2. मुहावरा – जबसे मीरा ने चित्तौड़ को त्यागा है, तब से इन उत्पातों का श्रीगणेश हुआ है।[30]

सूक्ति सौष्ठव : सूक्ति से तात्पर्य है–सुंदर उक्ति। दिनेशजी ने अनेक स्थलों पर सूक्तियों का प्रयोग किया है। यथा–

1. नियति द्वारा होने वाला होता है, उसका आभास उदीयमान सूर्य की लालिमा की नाई पहले ही अंतःकरण में प्रतिभाषित होने लगता है।[31]
2. वह बालिका शरत्काल की गंगा की धारा के समान स्वच्छ और पवित्र है।[32]
3. मीरा एक दिव्य सुगंधमय अस्फुट बालिका है।[33]
4. मीरा द्वितीया के चन्द्रमा की समुज्वल रेखा के समान पवित्र, निर्मल और दर्शनीया कन्या है।[34]

उद्देश्य :

'मतवाली मीरा' दिनेशजी की भक्तिभावपूर्ण नाट्यकृति है। इस नाटक में नाटककार का भावुक मन मीरा के माता–पिता, मीरा के सास ससुर, साधु–संतों और सखियों के माध्यम से छलछला आया है। इस नाट्य–रचना में उन्होंने भक्ति की ऐसी धारा उडेल दी है, जो अविरल गति से प्रवाहित हो रही है। मीरा भगवान की भक्ति में इतनी लीन है कि वह पद लिखने के साथ–साथ सुमधुर कंठ से गाती भी है। मीरा के भक्ति–मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं, लेकिन वह उनकी परवाह नहीं करती। राणाजी द्वारा मीरा को मारने के लिए जहर तक निलाया जाता है, परन्तु वह तो गिरधर की लाडली भक्तिन जहर को पीकर भी पहले से भी अधिक दीवानी बन जाती हे।

मीरा अपने प्रियतम भगवान कृष्ण से मिलने के लिए इतनी व्यग्र हो उठती है कि वह उन्हें ढूंढने के लिए यमुना के किनारे, वन और मंदिरों में निकल पड़ती है। इस प्रकार वह द्वारिकानाथ के एक विशाल मंदिर की शरण लेती है, जहाँ वह दिन–रात भगवान कृष्ण का निरंतर स्मरण करती है। अंत में वह इसी मंदिर में महा समाधिस्थ हो

जाती है। कहा जाता है कि मीरा के शरीर से एक दिव्य तेज निकलकर भगवान कृष्ण के मुख में प्रविष्ठ होता हुआ नजर आता है।

अंत में कहा जा सकता है कि 'मतवाली मीरा' हिन्दी जगत की महत्त्वपूर्ण नाट्य–कृति है। भाषा, भाव एवं प्रस्तुति की दृष्टि से यह कृति अनुपम है। इस नाटक के रचयिता तुलसीराम शर्मा को यदि हरियाणा का जयशंकर 'प्रसाद' माना जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी।

निष्कर्ष

स्वाभाविकता की रक्षा करने के लिए नाटककार को प्रत्येक युग, प्रत्येक देश तथा वातावरण का चित्रण उसकी संस्कृति, सभ्यता, रीति–रिवाज, रहन–सहन तथा वेशभूषा के अनुरूप करना चाहिए। ग्रीक आचार्यों ने नाटकों में देशकाल का महत्त्व प्रदान करने के लिए संकलनमय का विधान किया है; संकलनमय के अन्तर्गत समय, स्थान व कार्य की एकता का विधान किया है। नाटक में पात्रों की वेशभूषा, उनकी आकृति, भावभंगी क्रियाओं के अनुकरण, भावों के अभिनय तथा प्रदर्शन द्वारा दर्शक को समाज के यथार्थ जीवन के निकट ला देता है। इसी कारण अभिनय में जितनी वास्तविकता होती है, वह नाटक उतना ही सफल माना जाता है। लेखक ने देशकाल की प्रस्तुति के लिए तत्कालीन उपादानों का उल्लेख किया है। उन्होंने राजमहलों से लेकर मंदिरों, तक का सजीव चित्रण किया है। पहले दृश्य में बाग का तथा सोलहवें दृश्य में सघन वन का उल्लेख किया है। वातावरण को स्वाभाविक बनाने के लिए वातावरण को सुखन बनाने के लिए यमुना नदी का भी उल्लेख किया गया है।

संदर्भ

1. राहुल गर्ग, पाश्चात्य काव्य शास्त्र, पृ. 75
2. धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश (भाग–1), पृ. 323
3. गुलाब राय, काव्य के रूप, पृ. 30–31
4. वही, पृ. 31
5. वही, पृ. 31
6. वही, पृ. 31
7. तुलसीराम शर्मा दिनेश, मतवाली मीरा (पहली बात), पृ. 1
8. वही, पृ. 17
9. वही, पृ. 22
10. वही, पृ. 22
11. वही, पृ. 22
12. वही, पृ. 34
13. वही, पृ. 95
14. वही, पृ. 109–110
15. वही, पृ. 118
16. वही, पृ. 89
17. वही, पृ. 29
18. वही, पृ. 33
19. वही, पृ. 52
20. वही, पृ. 64
21. वही, पृ. 107
22. वही, पृ. 65
23. लक्ष्मीनारायण लाल, रंगमंच और नाटक की भूमिका, पृ. 120
24. वही, पृ. 120
25. तुलसीराम शर्मा दिनेश, मतवाली मीरा, पृ. 3
26. वही, पृ. 88
27. वही, पृ. 41
28. वही, पृ. 64
29. वही, पृ. 8
30. वही, पृ. 14
31. वही, पृ. 3
32. वही, पृ. 8
33. वही, पृ. 8
34. वही, पृ. 8